❀ ओ३म् तत्सत् ❀

सहज मार्ग

SAHAJ MARGA

वर्ष ६ Year 6

अंक ४ Number 4

श्री रामचन्द्र मिशन, शाहजहाँपुर (उ०प्र०)

(भारतवर्ष)

Shri Ram Chandra Mission

Shahjahanpur, U. P. (India)

सम्पादक मण्डल

काशीराम अग्रवाल, शाहजहाँपुर

सूर्यप्रसाद श्रीवास्तव, लखीमपुर-खीरी (उ०प्र०)

वार्षिक मूल्य ३) 1962. No 4. एक अंक १)

प्रकाशक — श्री रामचन्द्र मिशन पब्लिकेशन डिपार्टमेन्ट शाहजहांपुर

उत्तर प्रदेश (इन्डिया)

विषय सूची:-

विषय	लेखक	पृष्ठ
१—प्रार्थना		१
२—सम्पादक की बात		२
३—साधना	समर्थ गुरु महात्मा रामचन्द्र जी महाराज फतेहगढ़	३
४—साधन और साध्य	श्री रामचन्द्र जी, अध्यक्ष श्री रामचन्द्र मिशन	७
५—मेरी कहानी	श्री आयल रेड्डी, सेडम	१०
६—विज्ञान एवं धर्म : एक मिश्रण	श्री जगदीशप्रसाद अग्रवाल बी.ए. आसाम	१४
७—भगवान् और हृदय	श्री गुंडेराव पटवारी नागवारकर, बिदर	१८
८—जिन खोजा तिन पाइयाँ भाग १	कु० कस्तूरी चतुर्वेदी	२२
९—जिन खोजा तिन पाइयाँ भाग २	,,	२७
10—Some Important Features of Sahaj Marga	Mahatma Ram Chandra ji President Sri Ram Chandra Mission	33
11—The Master and the Mission	Sri Raghavendra Rao, B.Sc. B.E. M.I.S.E. Bellary	42
12—The Divine Ecl.o	Sri Vishun Sahai M.A.	47
13—Commanders of Sahaj Marga	Sri S. P. Srivastava M. A.	52
14—Talks on Efficacy of Rajyoga	Dr. K. C. Varadachari M. A. Ph. D.	60

[सर्वाधिकार सुरक्षित]

सहज मार्ग

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।

(उठो जागो !! गुरुजनों को प्राप्त कर ज्ञान-लाभ करो)

वर्ष ६] शाकाब्द १८८४, सं० २०१९ विक्रमी [Year 6

अङ्क ४ Year 1962 No. 4

❀ प्रार्थना ❀

हे नाथ, तू ही मनुष्य-जीवन का ध्येय है।
हमारी इच्छायें हमारी उन्नति में बाधक हैं।
तू ही हमारा एकमात्र स्वामी और इष्ट है।
बिना तेरी सहायता तेरी प्राप्ति असम्भव है।

O, Master !
Thou art the real goal of human life
We are yet but slaves of wishes
putting bar to our advancement.
Thou art the only God and Power
to living me upto that stage.

[श्री रामचन्द्र मिशन की दैनिक प्रार्थना]

सम्पादक की बात—

अपनी पत्रिका के सहृदय ग्राहकों और पाठकों को यह सूचित करते हुये हमें हर्ष हो रहा है कि पिछले कुछ अंकों के प्रकाशन में जो देर हो जाती थी वह अब दूर हो गई है।

गत वर्षों की भांति बसन्तोत्सव अबकी बार २६, ३०, ३१ जनवरी १९६३ को अपने मिशन में मनाया जावेगा। सभी सत्संगी भाई बहिनों से प्रार्थना है कि वह इस शुभ अवसर पर पधारकर सत्संग का लाभ उठावें।

इस वर्ष पारिवारिक कारणों से श्रद्धेय 'बाबू जी' को अपना दक्षिण भारत का दौरा स्थगित करना पड़ा। अब फरवरी १९६३ में दक्षिण भारत का दौरा करने का उनका इरादा है। हमारी प्रार्थना है कि उनकी यह यात्रा मंगलमय हो।

—सम्पादक

❀ साधना ❀

(समर्थ गुरु महात्मा रामचन्द्र जी महाराज, फतेहगढ़)

(क्रमागत)

सच्चिदानन्द में केवल तीन शब्द हैं- सत्, चित् और आनन्द। सत् कर्म है, चित् ज्ञान है और आनन्द उपासना (अन्तिम हालत) है किन्तु यदि उपासना को आनन्द न माना जाये तो सच्चिदानन्द की परिभाषा में कोई और शब्द सम्मिलित करना चाहिए, जिससे कि चरम उद्देश्य स्पष्ट हो जाए। किन्तु ऐसा करने से प्राचीन परिभाषा अशुद्ध और अपूर्व ठहरेगी और फिर उस चौथे शब्द का फिर कोई उद्देश्य मानना पड़ेगा और इस प्रकार अनवस्था दोष (कभी न समाप्त होने वाला क्रम) उत्पन्न हो जायेगा, और फिर असलियत तक पहुँचना कठिन हो जायगा। अतः जहाँ तक विचार का प्रश्न है उपासना या सत्संग मिलाप है। यह मिलाप ही उद्देश्य है, और यह आनन्द प्रसन्नता और मस्ती की स्थिति है, बल्कि स्वयं ही आनन्द, प्रसन्नता और मस्ती है यहाँ वेदान्त का अर्थ समझने की आवश्यकता है।

वेद (ज्ञान) का अन्त (अन्तिम सीमा) प्रसन्नता और आनन्द है। शास्त्र स्वयं कहते हैं कि दुखों की पूर्ण रुपेण समाप्ति और सबसे बड़े सुख को प्राप्त करना मनुष्य का ध्येय है। इससे सिद्ध होता है कि वेद अर्थात ज्ञान अपने आप में ध्येय (उद्देश्य, साध्य) है, बल्कि उस वेद-ज्ञान का अन्त या उद्देश्य केवल राहत, खुशी, सुरूर, सुख और आनन्द है।

कर्म में भी सुख है। किन्तु सुख सुख में अन्तर होता है। आनन्द में आनन्दभेद है। इस सूक्ष्म विचार को मस्तिष्क में रख कर परमानन्द सुरूरे-अज़ीम या बहुत बड़ा सुख शब्द का प्रयोग किया गया। अतः वह परमानन्द मिलाप, विसाल, परिरम्भ, सत्संग है; जिसे मैं स्थूल लाक्षणिक और पारिभाषिक शब्दों में उपासना कहता चला आ रहा हूं। यह शब्द निःसन्देह मिलाप के अर्थ में बहुत अच्छी तरह प्रयोग हो सकता है। किन्तु इसका लाक्षणिक और पारिभाषिक अर्थ पूजा सम्बन्धी कर्म (अमल) और चिन्तन (शुग़ल) हो गया है। अतः उसका प्रयोग नहीं किया, केवल उपासना ही को पर्याप्त समझा।

यह आनन्द परमानन्द उपासना है, इस शर्त के साथ कि उसकी असलियत और उसका वास्तविक उद्देश्य प्राप्त कर लिया जाय और इसी वजह से उपासना को ज्ञान से श्रेष्ठता प्राप्त है।

अब तक ऐसा समझ में आता है कि आत्मा ही आधार है किन्तु इस आत्मा के विषय में अब यह सिद्ध हुआ है कि यह पिंडी-मन है अर्थात् शरीर का हृदय। इसके दो गुण हैं— 'अत्' अर्थात् गतिशीलता और 'मन्' अर्थात् चिन्तन। इन गुणों के होने के कारण मन है, और राग, द्वेष, इच्छा, सुख, ज्ञान और प्रयत्न इत्यादि इसकी विशेषताएँ हैं। ब्रह्म का अर्थ 'ब्रह' अर्थात बढ़ना और 'मन्' अर्थात चिन्तन है। अतः यह ब्रह्माण्डी मन है। अतः इसमें भी शारीरिकता है। शरीर आवरण मात्र है। संस्कृत भाषा में शरीर को देह कहते हैं। देह 'दिह्' शब्द से निकला है जिसके अर्थ

हैं एकत्र हुआ (संघात)। तीनों शरीर-स्थूल, सूक्ष्म और कारण, ऐसे ही हैं। स्थूल देह स्थूल परमाणुओं का संघात है जो बाहर अर्थात् व्यक्त है। सूक्ष्म देह सूक्ष्म परमाणुओं का संघात है जो भीतर और बाहर दोनों के बीच है, जिसे मन या हृदय कहा जाता है इसी प्रकार कारण देह कारण परमाणुओं का संघात है जो अन्दर अर्थात् आन्तरिक या अव्यक्त है, इसको आत्मा (रूह) कहा जाता है। रूह, इत्र असल तत्व, (जौहर) संक्षेप (खुलासा) का नाम है। लोगों का विचार चूँकि इन्हीं तीनों तक सीमित है और वह इनको भी ज्यों का त्यों नहीं समझते और भ्रम दूर नहीं होता, अतः बार बार इन्हीं की व्याख्या की जाती है। ऋषि-मुनि नेति-नेति (न वह यह है, न यह वह है) कहते हैं। यह नेस्ती (नास्ति) का अनुवाद है। इसके बाद जो कुछ कहा जाता है वह इंगित (इशारा) मात्र है। किन्तु इशारे को समझ बहुत कम लोगों को होती है। जिन बातों के विषय में लोगों को आखिरी कुरेद होती है अर्थात जिसको दिल ढूंढता है उसका अभिप्राय न ईश्वर है न ब्रह्म न परब्रह्म। नेति, नेति, नेति। इसके विषय में क्या जबान खोली जाय, जब कि हृदय और बुद्धि से भी उसकी अभिव्यक्ति नहीं की जा सकती। यह सन्तों का चौथा पद है। कहने के लिये यह तुरीय है।

आम तौर पर लोग कारण शरीर, उपासना, भेद और सुख के रहस्य को नहीं समझते हैं अतः इसी के विषय में प्रश्नों के क्रम को चलाते रखने की आवश्यकता रहती है।

आंख सबको देखती है, अपने को नहीं देखती। नाक सब को सूंघती है, अपने को नहीं सूंघती। कान सबको सुनते हैं अपने

को नहीं सुनते। तुम सबको जानते हो अपने को नहीं जानते, यही अज्ञान है। इस अज्ञान को दूर करने के लिये कृत्रिम दर्पण की सहायता लेनी पड़ती है जो तुम ले रहे हो प्रारम्भ हो चुका है। धीरे २ जब दर्पण में अपनी छाया देखोगे और देख लोगे तब सन्तुष्ट होकर चुप हो जाओगे और फिर गुफ्तगू कहा-सुनी, प्रश्नोत्तर, बातचीत का क्रम बन्द हो जायेगा।

बिना उल्टी चाल अपनाये उसका अनुभव नहीं होता। वह सब का आधार मात्र है। यहाँ तक मैं और तुम सब जहाँ तक व्यक्त रूप में नज़र आते हैं जिस्म परस्त (शरीर सेवी) ही दिखाई देते हैं इसी कारण आत्मा, ब्रह्म, रूह आदि को शरीर कह कह कर समझाने का प्रयत्न किया जाता है। यह सब वास्तव में शरीर ही है। चाहे स्थूल हों चाहे सूक्ष्म या कारण- तीनों ही शारीरिकता के क्रमानुसार और सव्याख्या के नाम हैं। नाम और रूप स्वयं शरीर है, निराकार साकार शरीर है, निर्गुण और सगुण भी शरीर ही हैं। नेति, नेति, नेति।

(क्रमशः)

संसार में हम इसलिए भटके रहते हैं कि दुनियाँ की महक हमारे हृदय में रहती है। यदि हम अपने अंदर वह महक उत्पन्न कर लें जिसमें कोई महक न हो तो हमारी दुनियाँ बदल जाती है और हमारी उत्पत्ति उस ऊंचे मंडल में हो जाती है जिसको सालोक्यता कहा गया है परन्तु यह तो अभी आरम्भ ही है। इसके आगे और बहुत कुछ है। लगन बढ़ती चले तो फिर पता चलता है कि हम क्या थे और क्या हो गए ? फिर जब होने का पता न रहे तब असलियत में पग रक्खा समझना चाहिये।

साधन और साध्य

(श्री रामचन्द्र जी, अध्यक्ष श्री रामचन्द्र मिशन)

ईश्वर की यह परिभाषा है कि 'जो है सो है'। हमें भी उसी दशा की ओर जाना चाहिए जो उसकी तारीफ़ (परिभाषा) है। अब जितना जा सकें, यह उसकी देन है। हमारी अवस्था साम्य होना चाहिये। तराजू के दोनों पलड़े बराबर रहना चाहिए। जब तौलने का समय आ जाये तो नीचे ऊँचे थोड़ी देर के लिये हो जायें और फिर बराबर आ जायें। दया और रहम वहीं पर होना चाहिये जहां पर इसकी जरूरत है। मैं राजा हरिश्चन्द्र से माफ़िकत नहीं करता (सहमत नहीं हूं) कि सब कुछ देकर भंगी के हाथ अपने आप को बेच डाला। यह धर्म नहीं था बल्कि एक प्रकार की आत्म हत्या थी, यह चीज़ जो कि उन्होंने की असल में मनुष्यता के विरुद्ध थी। मेरी समझ से सिवाय नामवरी और तकलीफ उठाने के इससे कोई लाभ नहीं निकला। क्या हुआ कि तराजू का एक पलड़ा झुका ही रहा। मशीन की कल अगर ठीक प्रकार से Adjust (समायोजित) नहीं है, तो वह मशीन ठीक हालत में नहीं कही जा सकती। अगर यह खराबी मशीन में हो जाये तो फिर इन्जीनियर की जरूरत पड़ती है। असल उसूल (वास्तविक सिद्धान्त को) जानने वाले हमेशा कम रहे हैं, यद्यपि अच्छे ज़माने में संख्या कुछ अधिक रही है।

ईश्वर का मिलना तो भाई यही है कि हममें भी वही झलक पैदा हो जाये और वही बातें आजायें जो उसमें हैं। देखने में भले ही सिन्धु और बिन्दु का फर्क मालूम होता रहे।

अब खत के जवाब में यह समझ लो कि जिन बातों की जरूरत है वह धीरे २ आ रही हैं। पूजा तुम्हारी हर वक्त चलती रहती है, तुम्हें चाहे इसका पता हो या न हो। आगे यह चीज़ भी आ जाती है कि ज़ाहिरा पूजा होती ही नहीं, बल्कि कोशिश करने से जी घबराने लगता है और फिर यह ज़रूरी ही नहीं कि तमाम उम्र कोई पूजा करता रहे। अभ्यास को तो ऐसा समझना चाहिये जैसे एक चीज़ जो किसी दूसरी चीज़ को व्यवस्थित रूप में लाती है, जब यह चीज़ सुव्यवस्थित रूप में आ गई और उसका कार्य ठीक होने लगा तो इससे ज्यादा साधन का कोई ताल्लुक नहीं। जिस ध्येय के लिये पूजा की जाती है उसकी प्राप्ति के बाद उसकी आवश्यकता नहीं रहती, किन्तु इस बात को शिक्षक तय करता है अपने आप तय नहीं कर लेना चाहिये। स्वामी विवेकानन्द जी ने भी लिखा है कि ईश्वर की पूजा दो तरह के लोग नहीं करते—एक तो मानवता से गिरे हुये लोग और दूसरे जो अपने से काफी ऊँचे उठ चुके हैं।

अभ्यास कितना ही सूक्ष्म क्यों न बताया जाय फिर भी वह कर्म है। हासिल करना तो लयअवस्था है। सालोक्य, सायुज्य, सामीप्य और सारूप्य सब इसी की अवस्थायें हैं जिसने लय अवस्था प्राप्त कर ली और जिस हद तक प्राप्त कर ली तो Guidance (पथ प्रदर्शन) अपने आप होता रहता है। मैंने भी जब अभ्यास आरम्भ किया था और जो बात आरम्भ की थी, और आरम्भ करना क्या, बल्कि अपने आप हो गया था, उस चीज ने मुझे जब तक धुर तक न पहुँचा दिया, कुछ न कुछ अपने उद्देश्य

तक पहुँचने को बताती ही रही, या यों कहो कि ईश्वर की कृपा से मैं उस पर आता ही गया।

लय अवस्था का प्रारम्भ मुर्दा की तरह की कैफियत है, जिस पर आने की हर व्यक्ति को कोशिश करनी चाहिये और जहां से असल आध्यात्मिक विद्या प्रारम्भ होती है। नहीं बल्कि मुर्दा की हालत रहते हुए जब किसी तरीके से खयाल में न आवे वहाँ से आध्यात्मिक विद्या का 'अ आ' प्रारम्भ होता है। और यह हालतें कितनी ही कोशिश की जाये, जब तक परमात्मा मदद न करे अपनी ताकत से प्राप्त नहीं होतीं। किन्तु भाई, हममें से परमात्मा की मदद तलब ही कौन करता है? खुशामद करने वाले तो ईश्वर के बहुत मिलते हैं मगर अपने आपको उसके हाथ बेच डालने वाले बहुत कम।

इस जमाने में मोहताजगी इस क़दर बढ़ी हुई है कि हर व्यक्ति माँगने के लिए प्याला सामने किये हुए है। अपने आपको इस हद तक बनाने के लिए कोई तैयार नहीं होता कि मालिक को इतनी दया आ जाए कि माँगने की जरूरत ही न पड़े। तुमने देखा होगा कि भीख मांगने वाले लोग दर-दर फिरते हैं और पूरे दिन में कहीं उनका प्याला इतना भर पाता है कि मुश्किल से शाम तक पेट भर खा सकें और एक वह हैं कि जो मालिक की याद में एक बबूल की छाया में बैठे हुए हैं। उन्हें खाने को इतना मिलता है कि स्वयं खाते हैं और दूसरों को खिलाते हैं फिर भी काफी बच रहता है। यह तो भिखारी की शान है। पहले वालों को भिखमंगा कहना चाहिए।

—एक अभ्यासी के पत्र से उद्धृत

मेरी कहानी

(श्री आयल रेड्डी, सेडम्)

धरती की चीख-पुकार व उसके रुदन को सुनकर महापुरुष अवतरित होते हैं। उनके अवतरण का उद्देश्य यही होता है कि भवकूप में पड़े और भूले-भटके जीवों के जीवनोद्देश्य को अपनी अहेतुकी कृपा शक्ति से पूर्ण करें अर्थात् उस परमपद की प्राप्ति करायें जो मानव का परम लक्ष्य है। इस उद्देश्य की पूर्ति में यदि किसी को उस महापुरुष की कृपा दृष्टि प्राप्त हो जाये तो उसकी भांति सौभाग्यशाली और कोई नहीं है। वह धन्य है ; निस्संदेह उसका बेड़ा पार है।

वर्त्तमान युग-संचालक तथा युग परिवर्तनकारी समर्थ सद्गुरु श्री रामचन्द्र जी महाराज ने मुझ जैसे दीन पर भी अपनी अहेतुकी कृपा-दृष्टि की है। मेरे जन्म को पावन तथा पुनीत बनाया है। अब मैंने उस प्रभु-शक्ति से अपने हृदय-मंदिर में ज्ञान-दीप जलाया है और 'उनकी' शक्ति की अनन्तता में अपने को पाया है।

मेरा बाह्यमन मेरे प्रभु श्री बाबू जी के अधीन है। दूसरा अंतरमन उनकी कृपा-शक्ति से ओत-प्रोत होकर इन्द्रियों को जीतने में संलग्न हो रहा है। मैं अंतरमन से जब बाह्यमन की ओर देखता हूँ तो वहाँ पर परिवर्तन दिखलाई देते हैं। परिवर्तन की शुद्ध लहरें मेरे अंतरमन की ओर भी आती दृष्टिगत होती हैं।

माता से जन्म लेने के बाद अब मैं हृदय के विस्तार में दूसरा जन्म ले रहा हूँ। अब नौ महीने तो क्या नौ जन्म भी इन्तज़ार कर सकता हूँ। इस हृदय-विस्तार में मैं अब सुख तथा शान्ति पा रहा हूँ। ऐसे में नौ युग नौ दिन ही तो हैं। जो लोग इस सुख-शान्ति से अलग हैं वे यम के शिकंजे में जकड़े हुये हैं। इस विश्व में उनके लिये दुःख-दर्द के सिवा कुछ नहीं।

जो हो, मैं तो हृदय-विस्तार में अब आनन्द का रसास्वादन कर रहा हूँ। हर दिन अज्ञानांधकार को चीरता जा रहा हूँ। इन हृदय-विस्तार की तरंगों से मैं पूर्ण जीवन प्राप्त कर रहा हूँ। मेरा दृढ़ और अटल विश्वास है कि एक दिन मैं पूर्ण हो जाऊँगा।

× × ×

मैंने अब एक राज्य को पा लिया। एक बार किसी बात पर मेरे बापू जी ने झिड़कियें दीं तो मैंने अपने बड़े भाई के दामन को थाम लिया। बड़े भाई ने मोहब्बत से गोद में उठा कर कहा-"अरे पगले ! बापू की इन मोहब्बत भरी झिड़कियों ने तेरे हृदय की गाँठ को खोल दिया जिन्हें खोलना तेरे लिये नामुमकिन था।" इसके बाद मैंने फिर अपने को बापू की मोहब्बत में पाया। करुणामय बापू की मोहब्बत भरी झिड़कियों ने मेरे गुस्से को हटा दिया और मोहब्बत की दिव्यता में मैं पुनीत हो गया।

+ × ×

मेरी पत्नी कहती है 'आप पहलेकी भांति बातें नहीं करते' मुझे पता नहीं कि मैं पहले किस तरह बातें किया करता था

और अब किस तरह बातें करता हूं। अब मैं एक बात अवश्य महसूस कर रहा हूं कि दिल बिल्कुल खाली-खाली सा है। न वहाँ कोई तरंगें ही हैं और न कोई बातें। ऐसा लगता है कि मेरे बापू ने हृदय की वासनाओं को हटा दिया और वहाँ पर वे ही हकूमत कर रहे हैं। क्या आप पता लगा सकते हैं कि मैंने क्या पाया है? मैंने उन नियामतों को लिया है जिनका पंडितों ने पुस्तकों में भी वर्णन नहीं कर पाया है। मेरे मित्र मुझे अपने काम का नहीं समझ रहे हैं; मगर मैं उनको अपने काम का समझता हूँ। वे मुझसे मोहब्बत नहीं करते परन्तु मैं उनसे मोहब्बत करता हूँ। पहले जहाँ स्वार्थ था वहाँ अब मुझे उनसे कोई स्वार्थ नहीं है। मेरे दिल के उस राज्य को वे नहीं जानते जो मैंने अपने मालिक से पाया है। उस मोहब्बत को वे भी नहीं जानते जो मेरे मालिक ने मुझे प्रदान की है।

× × ×

मेरे पिता जी मुझसे कहते हैं-"तुम बहुत नासमझ हो।" इसलिये कि धन-प्राप्ति ही मेरा लक्ष्य नहीं है। परन्तु अन्दर मेरे परमपिता श्री बाबू जी कहते हैं- "बेटा, तुमने उस दौलत को पाया है जिसे लोग जन्म-जन्मान्तर में नहीं पाते।" अब मैं सोचता हूँ तो मुझे ऐसा ही लगता है कि लोग दौलत क्यों कमाना चाहते हैं? सुख और शान्ति के लिये ही। यदि यह सही है तो जिन बातों को वे अभी तक नहीं पा सके हैं उनको मैंने पा लिया है, अतः जीत मेरी है, या उनकी?

× × ×

अक्सर लोग भक्ति और प्रेम से ही ईश्वर प्राप्ति बताते हैं परन्तु भक्ति साधक में हो कैसे? भक्ति की नहीं जाती बल्कि हो जाती है। इस होने और आने की जड़ तो केवल श्रद्धा ही है। श्रद्धा के बिना भक्ति हो ही नहीं सकती। श्रद्धा की जो धार है उसका मालिक से सम्बन्ध है। उसे पता नहीं होता कि इसी को भक्ति कहते हैं। मैं श्रद्धा को लेकर ही साधन पथ में उतरा।

भक्ति एक गर्मी है जो अनुभव की जाती है लेकिन दिखाई नहीं जाती। यह भक्ति मालिक के प्रेम व मोहब्बत को खींचती है या इससे मालिक ही खिंच आते हैं। बस; जो इस प्रेम व मोहब्बत को पाता है गोया वह सब कुछ पा लेता है। मुमकिन है इसकी प्राप्ति में कुछ देर लगे मगर असम्भव कुछ नहीं है।

बस; मैं अपनी कहानी लिख चुका। उपर्युक्त विवरण मेरे परमपूज्य श्री सद्गुरु महाराज की कृपा का ही फल है। उनकी कृपा, करुणा, शक्तिमत्ता को दिखलाने में यदि यह लेख सफल हो जाये तो मेरे समान कृतार्थ और कौन होगा? मेरी इस कहानी को पढ़कर यदि कोई बन्धु मेरे गुरु महाराज की कृपा, करुणा तथा सर्वशक्तिमत्ता की दिव्य अनुभूति करना चाहेंगे तो वे उस अहेतुकी कृपा से ओतप्रोत होकर सुख-शान्ति पूर्ण जीवन अपना सकेंगे।

विज्ञान एवं धर्म : एक मिश्रण ।

(श्री जगदीश प्रसाद अग्रवाल बी० ए० आसाम)

आज दुनियाँ का वातावरण कितना जटिल हो चला है सारे राष्ट्र राजनीतिज्ञों की चालों द्वारा एक दूसरे से भिड़ते भिड़ते बच जाते हैं। बड़े बड़े राष्ट्र-विध्वंसकारी औजारों को लिये तैयार खड़े हैं। किसी भी क्षण कहीं पर भी गोले बरस सकते हैं कब कौन किस पर हमला करदे कुछ ठिकाना नहीं। आज मनुष्य निश्चिन्त होकर नहीं बैठ सकता। हमें हमेशा युद्ध का भय बना रहता है, अमेरिका और रूस घातक वैज्ञानिक हथियारों में परास्त पाने का मौका ढूँढ रहे हैं। आज कोई भी देश शान्तीपूर्वक नहीं बैठ सकता। समस्त विश्व में राष्ट्रों की जबरदस्त खींचा तानी चल रही है। दांव पेच के आधार पर विश्व-युद्ध रुका हुआ है। ऐसा लगता है झगड़ते झगड़ते अब तक यह राष्ट्र बरसने वाले हैं। कोई तूफान आने वाला है। पृथ्वी परिवर्तन के लिये तिलमिला रही है। दुनियां की राजनैतिक अवस्था दिन पर दिन उलझती जा रही है—भयावह होती जा रही है, कुटिल राजनीतिज्ञ किसी भी सुलझाव को उलझाव का रूप दे रहे हैं। आज भारत जैसै सात्विक एवं शान्ती प्रिय देश भी युद्ध के लिये तैयार हो रहा है। तो बड़े बड़े क्रान्तिकारी देशों की बात ही क्या। आज कोई देश मार्कसवाद का सपना देख रहा है। तो दूसरा अपनी सैनिक शक्ति प्रदर्शित करने के लिये बेचैन है। आबादी बढ़ रही है और उपार्जन कम हो रहा है। मनुष्य की अवस्था अब शोचनीय है। वह आज निश्चय नहीं कर पा रहा है

कि क्या अच्छा है और क्या बुरा। विज्ञान धर्म पर पड़ी अन्य विश्वासों की परतों को उखाड़ रहा है पर ऐसा करते हुये वह धर्म में चिपकी वह 'चासनी' जिसके लिये मानव लालायित है, देने में असमर्थ है। विज्ञान एवं धर्म ने एक दूसरे की आलोचना कर मनुष्य में कुछ अनिश्चितता पैदा कर दी है। धर्म के अन्धविश्वासों एवं इसके नाम पर होने वाले कुकृत्यों को लेकर आज मानव विज्ञान की ओर अग्रसर हो रहा है पर यहाँ भी उसे शान्ती नहीं मिलती। इस प्रकार की अवस्था में एक प्रकार के लोग आते हैं। दूसरे प्रकार के वे लोग हैं जो बड़े कट्टर हैं। धार्मिक अंधविश्वास को लेकर मरमिटने को तैयार रहते हैं। वैज्ञानिक सोचन प्रणाली का उन पर कोई असर नहीं। विज्ञान से घृणा करते हैं। बाप अपने बेटे की आधुनिकता देखकर रो रहा है। पछता रहा है, सोचता है धर्म का नाश हो रहा है और इधर बेटा अपने बाप के अन्धविश्वासों के लिये क्षुब्ध है पुरानी सामाजिक रीति रिवाजों की बातों को लेकर वह बेकार मानते हैं। आज इस प्रकार के लोगों की संख्या अधिक है।

इसमें आज के बड़े बड़े विज्ञानिक, धर्माचार्य, राजनीतिज्ञ एवं साहित्यकार भी लिये जा सकते हैं। वे अपना दृष्टिकोण अपने विषय तक ही सीमित रखते हैं। स्वतंत्र विचारों में नहीं सोचते। आज के राजनीतिज्ञ किसी भी काम को करने के पहले यह ख्याल बनाये नहीं रखते कि राजनैतिक का मानव जीवन से क्या सम्बन्ध है। धर्म के उपदेशक धर्म को बिल्कुल अलग विषय मान लिये हैं। किताब व ग्रन्थों में अंकित सिद्धांतों के अनुसार ही वे आज मनुष्य को बनाना चाहते हैं और ऐसा करते हुये भी वे मनुष्य की परिस्थि-

तियों पर भी ध्यान नहीं देते। धर्म विज्ञान से परे भागना चाहता है और विज्ञान धर्म को समझना नहीं चाहता। अपने अपने विषयों के विद्वान एक दूसरे के विषय में सुधार कर सामंजस्य स्थापित करने के बदले एक दूसरे की आलोचना में लगे हैं। वे अपने अपने विषय को पूर्ण समझ लिये हैं और इसी में सारी सृष्टि एवं मानव जीवन को समझना चाहते हैं। कोई भी धर्म, विज्ञान, दर्शन, साहित्य, राजनैतिक या संगीत आदि भिन्न भिन्न विषयों पर एक सामंजस्य की दृष्टि फेंकता हुआ उस बिन्दु को समझने की कोशिश नहीं करता जहाँ इन सभी विषयों का एक केन्द्रीकरण हो जाता है यदि हम पहले किसी whole (पूर्णता) को समझकर फिर उसके किसी विशेष part या विशेषाधिकार प्राप्त करना चाहें तो ज्यादा अच्छा होगा। अन्यथा एक हाथी पर सात गधों का वाद-विवाद वाला मामला बनने का खतरा उपस्थित हो सकता है। आज मनुष्य की कुछ ऐसी ही अवस्था है।

मनुष्य आज वृक्ष एवं गुफाओं में रहते रहते 'ऐयरकण्डी-सन्ड' के मकान में रहने लगा। विज्ञान ने निःसंदेह मनुष्य जीवन की अनेक कठिनाइयों को दूर किया है। पर जैसे जैसे विज्ञान हमारी कठिनाइयों को सुलझाता जाता है वैसे वैसे मनुष्य की इच्छायें और तीव्र होती जाती हैं। वह सन्तोष का अनुभव नहीं करता। जहाँ विज्ञान हमारी एक समस्या का सृजन भी कर देता है इसके बावजूद यदि विज्ञान किसी समस्या का समाधान निकाल भी लेता है तो मनुष्य में व्याप्त उस नियम को अपनाने की विवशता को दूर नहीं कर पाता। आज कितने ही विद्वान सच्ची वस्तुस्थिति को

समझ रहे हैं पर कुछ भी करने को लाचार है। वास्तव में आज का मनुष्य विद्वान है पर वह लाचार है। विवश है। चीन यदि अपनी फौज भारत से हटाने का इच्छुक भी हो जाय तो भी वह नहीं हटायेगा और इधर भारत युद्ध न चाहते हुये भी युद्ध के लिये लाचार है, इस प्रकार की समस्या का उठना मनुष्य के खोखलेपन की निशानी है। हम सब कुछ समझते हुये भी कुछ नहीं कर पाते। इसका कारण मनुष्य में नैतिकता की कमी है, व्यक्ति की शक्ति क्षीण हो गयी है। आज मानवता का खात्मा हो चला है। मनुष्य में मनुष्यता का तेज नहीं। हममें अपना कुछ भी नहीं रहा। आज के विद्वान अपने पूर्वजों के सिद्धाँतों से ही शान्ती स्थापित करना चाहते हैं। किताबों और ग्रन्थों को समझना ही मनुष्य मात्र का अन्तिम ध्येय होने लगा है। मनुष्य अपने २ विषय की पुस्तकों में अर्जित सिद्धाँतों के जरिये ही वास्तविकता को समझना चाहते हैं स्वयं अनुभव नहीं करते। ग्रन्थों के आधार पर ही वे अपने आप को बनाये रखना चाहते हैं। ये वस्तुऐं हममें स्वयं उत्पन्न हों ऐसा हमें प्रयत्न करना चाहिये। यदि मनुष्य अपना व्यक्तिगत रूप से नैतिक स्तर सुधार लें तो आज विश्व की कोई समस्या ही न रह जावेगी।

किसी भी देश की उन्नति आज तभी सम्भव हो सकेगी, जब वहाँ की जनता हृदय को धर्म की 'चासनी' में डूबों कर हाथों से वैज्ञानिक साधनों द्वारा अन्धाधुन्ध काम करते रहें। आज हमें विज्ञान और धर्म के बीच के मार्ग को अपनाना है। विज्ञान और

शेष पृष्ट २१ पर

भगवान और हृदय

(श्री गुंडेराव पटवारी नागवारकर, बिदर)

सरस्वती के वरद-पुत्र एवं प्रसिद्ध दार्शनिक माननीय राष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन का एक वाक्य है, "भगवान के दर्शन के लिए हृदय को शुद्ध करने की आवश्यकता है, सत्य ज्ञान के लिए पांडित्य की नहीं बालसुलभ सरल हृदयता की आवश्यकता है।"

मैं कोई दार्शनिक नहीं हूँ और न कोई महान पंडित, केवल एक साधक हूँ। मैं भगवान के विषय में कुछ नहीं लिख सकता; परन्तु जबसे मैं श्री रामचन्द्र मिशन में आया हूँ तब से भगवान के प्रति, एक दिव्य ज्योति के प्रति मेरा मन कुछ अनुभव कर रहा है। क्या अनुभव कर रहा है? उसको किस प्रकार का अनुभव हो रहा है यह भी लिखने अथवा कहने की शक्ति मुझमें नहीं है। केवल अनुभव कर रहा हूँ उस हवा की भांति जो जीवन के लिए अत्यन्त उपयोगी है और जिसको न बतलाया जा सकता है और न दिखलाया जा सकता है। वह केवल अनुभव करने की बात है और अनुभव कर रहा हूं।

हाँ यह अवश्य कह सकता हूँ कि उस वस्तु को अनुभव करने वाला साधन मेरा हृदय है। हृदय और भगवान दोनों का सम्बन्ध है। डा० राधाकृष्णन का उक्त वाक्य कितना महान और सच्चा है। भगवान के लिए शुद्ध हृदय की आवश्यकता है अर्थात शुद्ध हृदय ही भगवान को पा सकता है। मेरे कुछ साथी हैं, उनसे बहस

हुई वे कहने लगे कि ज्ञान ही भगवान को पाने का एकमात्र मार्ग है पर मेरी समझ में नहीं आया कि ज्ञान का वह कौन सा मार्ग है जिस पर चल कर मनुष्य भगवान को पा सकता है।

ज्ञान बाहरी वस्तु है, उसका सम्बन्ध भगवान से नहीं है। भगवान का सम्बन्ध केवल हृदय से है। जिसका हृदय शुद्ध है उसको भगवान के दर्शन सुलभ हैं। हृदय को पवित्र करो और उसको महान बनाओ। जिस दिन हृदय की पुकार हुई कि "अब मैंने रास्ता पा लिया है" बस समझ लो कि मन पवित्र हुआ और आगे आपका रास्ता स्वच्छ हो गया।

समर्थ गुरु श्री रामचन्द्र जी के चरणों में आने से पूर्व हृदय कुछ विचित्र था; उसका कार्य विचित्र था, उसमें बुरे और अच्छे की कोई तमीज नहीं थी। बुरा काम भी किया जाता था और अच्छा कार्य भी परन्तु समर्थ गुरु की शरण में आने पर हृदय कुछ विचार करने लगा। जब से सहज-मार्ग के बतलाये हुये नियमों पर जीवन चलना आरम्भ हुआ तब से हृदय को मनन-शक्ति भी बढ़ गई। हृदय कुछ पवित्र होने लगा, बुरे कामों से डरने लगा। वह अनुभव करने लगा कि अब मेरे साथ और कोई है। हुआ क्या? महान बनने लगा, आगे बढ़ा। अब भी कुछ बुराई करता हूँ परन्तु यह भी कह देना चाहता हूँ कि अब जो बुराई कर रहा हूं वह मैं कर रहा हूँ हृदय नहीं क्योंकि बुराई की समाप्ति पर हृदय अपना काम करता है यह कहते हुये कि 'काम बुरा हुआ' एक अजीब प्रायश्चित करना आरम्भ करता है। बस यही अवस्था हृदय की पवित्रता है।

आचार अलग है, प्रेम अलग है। कुछ लोग नियमित रूप से उठते-बैठते, सोते हैं; नियमित रूप से भगवान की प्रार्थना करते हैं परन्तु यह नहीं कह सकते कि वे सच्चे प्रेमी हैं और उनका हृदय शुद्ध है तथा वे भगवान को प्राप्त कर लेंगे। वास्तव में यह उनका आचार है जिसको भगवान का प्रेम नहीं कहा जा सकता।

मेरे एक मित्र हैं, एम. ए. हैं; अच्छे साहित्यकार हैं; संयमी हैं नियमित रूप से प्रार्थना करते हैं परन्तु उनका हृदय भगवान की भक्ति से बढ़ कर अपने नियम की भक्ति करता है। यह आचार है जिसका भगवान के प्रेम से कोई सम्बन्ध नहीं और इससे हम यह नहीं कह सकते कि हृदय स्वच्छ हो रहा है।

मेरा अपना एक ही विचार है और वह यह है कि हृदय को शुद्ध करो; सदा हृदय की ओर ध्यान दो। देखो उसकी शुद्धता पर कोई धब्बा तो नहीं लग रहा है बस भगवान को प्राप्त करने का, मोक्ष का तथा गुरु के सारे आदेशों को पूर्ण करने का केवल एक ही साधन है।

निरन्तर प्रातः से सायंकाल तक अनेक बुराइयाँ कर, ढोंग कर, बतलाने की वस्तुओं की भांति प्रार्थना करने से क्या लाभ! क्या एक साधक का यही कर्त्तव्य है? कि वह वाह्य दिखावे को ही मुख्यता प्रदान करे। तू यह सोच कि तेरा हृदय कैसा है? विचार कर यदि तेरा हृदय यह उत्तर दे कि "मैं शुद्धता की ओर अग्रसर हो रहा हूँ" तभी तू भगवान के निकट जा सकेगा। हमारा हृदय उस बालक की भांति होना चाहिये जो निस्वार्थ रूप से माँ से प्रेम करता है।

अंत में यह कहकर कि हृदय को शुद्ध करना चाहिये; यही भगवान को पाने का एकमात्र साधन है और सहजमार्ग का एकमात्र श्रेष्ठ नियम" मैं यह उचित समझूँगा कि आपके सम्मुख डाक्टर राधाकृष्णन के उस वाक्य को रख दूँ जो उन्होंने अपनी महान पुस्तक 'सत्य की खोज' में लिखा है।

"व्रतों और प्रार्थनाओं का नाम पूजा नहीं है अपितु विशुद्ध एवं व्याकुल हृदय से भगवान का स्मरण करना पूजा है। कस्तूरी का वास तो हरिण के अपने अंदर होता है परन्तु वह यही सोचता है कि यह सुगन्ध कहीं बाहर से आ रही है और उसकी खोज में वह अशान्त होकर घूमता है। भगवान का मंदिर पवित्र है और वही मन्दिर तुम स्वयं हो। हृदय ही मंदिर है। यदि वह पवित्र हो तो उसमें भगवान बैठ सकता है।"

पृष्ठ १७ का शेष

धर्म सीढ़ी के वे दो स्तम्भ हैं जिनके बीच लगी पटरियों के माध्यम से हम ऊपर चढ़ सकते हैं। विज्ञान एवं धर्म के बीच का मार्ग बनाने के लिये इन दोनों विषयों में काफी संशोधन की आवश्यकता है आज का युग ऐसा ही मार्ग चाहता है। अतः मानवता के रक्षकों का यह कर्तव्य है कि वे इसी प्रकार का मार्ग बनाकर मनुष्य का कल्याण करें। इसमें सन्देह नहीं आज के सभी विद्वान भिन्न भिन्न विषयों में विभक्त हो गये हैं और ऐसा कोई विद्वान शेष नहीं रह गया है जो इन सभी विषयों से जरा ऊपर होकर कुछ वास्तविकता का पता चला सके। अतः आज विश्व में लोग अपनी अपनी डफली से अपना अपना राग गा रहे हैं, स्थिति बड़ी नाजुक है।

जिन खोया तिन पाइयाँ

(कु० कस्तूरी चतुर्वेदी)

भाग १

कैसी अटपटी बात एवं अटल दीवानापन है किन्तु निम्न कथन की इस यथार्थता को तो हमें स्वीकार ही करना होगा कि कहते हैं एक बार सूफी संत शिब्ली हाथ में दोनों ओर जलती लकड़ी लेकर दौड़े। लोगों ने कहा कहाँ चले ? बोले जन्नत और दोजख दोनों को जला दूँ ताकि जन्नत की चाह से या दोजख के डर से कोई खुदा को न याद करे। खुदा को याद करें सब खुदा के लिये। बात कितनी गम्भीर किन्तु स्पष्ट है कि हम केवल 'उसको' उसी के लिये ही चाहें जो सदा सदा के लिये हमसे मिलने को हमारी बाट जो रहा है। हमें अपने में छिपा लेने के लिये अधीर हमें पुनः पुनः संकेत देता है " कि जिन खोया तिन पाइयाँ. गहरे पानी पैठ " यद्यपि भक्ति की मधुरता में बैठे हुये साधक का तो सर्वथा यही सत्य कथन है कि " जिन खोजा तिन पाइयाँ, गहरे पानी पैठ " किन्तु सहज-मार्ग में भक्ति-रूपी सागर की गम्भीरता में बैठे हुये योगी का कथन तो अनोखा ही है। उनका तो अपना यह अनोखा किन्तु चोखा अनुभव होता है कि " जिन खोया तिन पाइयाँ, गहरे पानी पैठ।" सत्य तो यही है कि सबसे मुख्य एवं गम्भीर तो हमारा अपना हृदय ही है। सहज मार्ग में हृदय की सैर का ही विस्तार सबसे विस्तृत है। हृदय की सैर की समाप्ति होते, ही योगी को सिद्धि की प्राप्ति हो जाती है परन्तु इष्ट अथवा लक्ष्य की नहीं उसके

लिये तो उसे अभी और चलते ही चले जाना है। मन रूपी सागर से ही नेत्रों को बिन्दु मिलते हैं इसलिये मन की स्थिति का ज्ञान एवं साधक की रहनी के स्थान का पता भी सबसे अधिक उसके नेत्रों द्वारा ही मिलता है। हृदय की गंभीरता में खो जाने वाले नेत्र ही हैं। बिना आंतरिक-दृष्टि के अंतर के मोती खोज पाना असम्भव है। सूक्ष्म से सूक्ष्म एवं गुह्य से गुह्य मानसिक-सरोवर में आंतरिक-दृष्टि रूपी हंस किसी को खोजते खोजते जब विलीन हो जाता है तभी आत्मिक-गतियों रूपी मोती चुग पाता है। तभी उसे मन रूपी दर्पण में अपने 'प्रिय' का मधुर एवं सम्मोहक दर्शन प्राप्त होता है एवं उसके अंतस की रागिनी विह्वल और विस्मृत होकर पुकार उठती है कि " दर, दिवार दर्पन भये, जित देखों तित तोय, काँकर, पाथर, ठींकरी, भये आरसी मोय "। एक दिन जब ऐसा आ जाता है कि अपने विचार, दृष्टि एवं निज को भी अंतर में पैठते पैठते जब नितान्त खो बैठता है तभी घटघटवासी, सर्वअंतर्यामी सद्गुरु एवं ईश्वर का साक्षातकार हो पाता है।

ऐसा होना तो सत्य एवं सरल भी है क्योंकि मनुष्य का मन अभ्यास का दास है। जिस प्रकार की स्थिति के हम आदी बन जाते हैं उसमें ही आनन्द का अनुभव करने लगते हैं। यदि हमारे मन की वृत्ति संसार की ओर झुक जाती है तो वैसे ही कार्यों की ओर हमें प्रेरित करती है किन्तु सद्गुरु कृपा से यहयदि ईश्वर-प्राप्ति की ओर उन्मुख हो गई तो फिर कुछ करना धरना सदैव के लिए समाप्त हो जाता है। वहाँतो अपना एक अलौकिक-क्षेत्र है जिसमें क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञ एक हो रहते हैं। कहते हैं कि जिस प्रकार नदी में

पानी का सदा बहते रहना ही उसकी शोभा है उसी प्रकार ईश्वरीय-मार्ग में बहते हुये साधक का निरंतर बहाव एवं सदा आगे देखना ही उसकी शोभा है। जिस प्रकार जल का श्रोत या बहाव बंद होते ही उसके जल में दुर्गन्ध आने लगती है उसी प्रकार जहाँ आत्मिक-उन्नति में रुकावट आने लगी, पैर थमने लगे, उससे कोई न कोई अहंतारुपी दुर्गन्ध उत्पन्न होने की सम्भावना सदा बनी रहेगी। हाँ एक समर्थ सद्गुरु की ही पावन-इच्छा एवं प्राण-शक्ति कभी भी ऐसी चीज उत्पन्न होने का मार्ग सदा सदा के लिये बन्द कर देती है सद्गुरु की तो यह सहज रीति होती है कि अपने बालक के हृदय को सुदृढ़ बना देती है जो उसे विचलित नहीं होने देती एवं अपने सरल स्वाभाविक कृपा एवं वात्सल्य से उसके हृदय को लबालब कर देती है कि उसमें 'उसकी' ही महक के अतिरिक्त अन्य की गुंजायश ही शेष नहीं रह जाती है। यदि ऐसा न हो तो 'उसकी' विद्या सजीव और तेजस्वी नहीं कही जा सकती है क्योंकि शिष्य के व्यक्तित्व का पौधा सद्गुरु के हृदय से 'उसकी' ही पावन-इच्छा एवं प्राण-शक्ति द्वारा अपना खाद्य प्राप्त करता है। किन्तु बालक भी ऐसा हो जो बुद्धि में धैर्य, मन में उत्साह और दृष्टि में दूरदर्शिता पूर्वक साधना में जुट पड़े फिर सद्गुरु शक्ति द्वारा अंकित उनका परिश्रम एवं शक्ति नदी में आई बाढ़ के सदृश दुःखदाई एवं निष्फल नहीं होतावरन् उनके विचार, गति एवं चैतन्यता में हमें दिव्यता का अभास मिलता है जो साँसारिक-उलझनों एवं संस्कारों से परे अति परे होता है। उनकी कल्पना एवं अनुभव जागरूक होती है थोथी नहीं। यद्यपि संवहन, विचार एवं अभिव्यक्ति हमारे अंतर में

केवल यही ज्ञान देती है कि भावना किस प्रकार कार्य करती है, शब्द उसकी क्षमता में चार चाँद लगा देते हैं किन्तु ईश्वरीय-कृपा उस पर जादू कार्य करती है।

भाई सत्य तो यही है कि मिट्टी से बने घड़े को सब घड़ा ही कहते हैं मिट्टी नहीं क्योंकि मिट्टी में आकार-भेद के कारण एक विशेषता आ जाती है और विशेषता ग्रहण कर लेने के पश्चात् ही वह दूसरा नाम पा जाती है पहले नहीं किन्तु जिन बड़भागी को घड़े की गहराई में खो पाने का सौभाग्य प्राप्त हो जाता है उसके लिये फिर घड़ा, घड़ा नहीं वरन् उसे मिट्टी का ही पता मिल जाता है। और तब ? मिट्टी मिट्टी में मिल जाती है। ऐसा हो पाना सरल एवं सम्भव तभी हो पाता है जब हम अपनी हृदय रूपी गागर को अनन्य प्रेम एवं सतत् स्मरण द्वारा अपने प्रियतम के हृदय रूपी महासागर में उंडेल देते हैं। तभी अधीर मन बरबस पुकार उठता है:-

" उत सावन इत नैन हैं, उत गरजत इत आह,
उतहिं कूक, इत कूक है, सकहु तो लेहु बचाय ॥

परन्तु ऐसा पुकारते पुकारते ही वह अपने 'परम प्रिय प्रभु' के प्रेम रूपी अथाह-सागर में सदा सदा के लिये विलीन हो जाता है। और तब ? वह स्वयं तो बेहोश रहता है किन्तु 'वह वात्सल्यमय सद्गुरु 'श्री बाबूजी' रूपी जननी उस बेहोशी में भी उसे एक ऐसा होश देते हैं जिसका पता उसे ठोकर खा जाने या कुछ चोट इत्यादि लगने पर एक क्षण को ही मिल पाता है। वह बेलौस रहता है परन्तु ममता मयी जननी उस बेलौसी की दशा में

भी उसके अंतर में एक कसक उत्पन्न कर देती है जो उसे इस बात का पता देती है कि अभी उसे आगे चलते जाना है। उसकी रहनी में उसकी यह मूक फरियाद घर कर जाती है कि:-

" बल न छुटे तेरे बालों से, और नै से फरियाद,
पल भर मणि न छुटे काले से, मुझसे तेरी याद ॥

जो हमको उस दशा का ही संकेत देती हैं कि " जिन खोजा तिन पाइयाँ " किन्तु जैसे बिना सघर्ष के संग्राम असम्भव है और संग्राम के बिना हर्ष, जय अथवा पराजय उसी प्रकार साधना में अपनी मानसिक-रहनी में जब हम संयम का संघर्ष देते रहते हैं तभी अपने सहज-मार्ग रूपी क्षेत्र में हम खोये खोये भी जागते रहते हैं और विश्व में जागते रहने पर भी हमें जागने का होश नहीं आता है। खोये खोये हुये भी हम कुछ पाते रहते हैं किन्तु उस पाने में पावने और पाने वाले एवं उस अनन्त 'दातार' का भी पता नहीं मिल पाता है।

एक अभ्यासी लिखते हैं कि यहां से जाने के पश्चात पूजा में प्रगति है। सो यदि आप अपने को यहाँ ही समझ लें तो आप अपने को पूजा में लीन पायेंगे। कहावत प्रसिद्ध है कि 'सींक की ओट पहाड़ है।' यदि आने-जाने, चलने फिरने देखने भालने का विचार हृदय में न रहे एवं करता सब रहे जो करने योग्य है तो फिर हम उस दशा पर पहुँच जाते हैं जहाँ पर तैराव ही तैराव शेष रह जाता है, बंधन सब टूट जाते हैं।

श्री बाबूजी के उद्गार

जिन खोया तिन पाइयाँ

(कु० कस्तूरी चतुर्वेदी)

भाग २

वास्तव में साधक का संयम तो हर दशा में, हर समय एकमात्र अपने प्रिय इष्ट की प्राप्ति के लिये सतत् प्रयत्न या उद्योग करना ही होता है। किन्तु भाई यह संघर्ष, संघर्ष होते हुए भी अशान्त का कारण नहीं होता वरन् इसके पीछे अथाह-शान्ति एवं अनवरत् प्राप्ति का सागर लहराता है। यह पावन एवं मूक संघर्ष तब तक शान्त नहीं होता है जब तक साधक को उसके इष्ट-लक्ष्य में उसे विलीन अथवा खो नहीं देता है, चैन नहीं लेने देता है। उसका वह खो जाना भी उसी परम-शान्ति एवं शाश्वत् एवं सतत् एकरस का द्योतक है जिसमें साधक मरा मरा भी जी उठता है, खोया भी कभी न आने वाला होश पा लेता है। होश एवं याद का भेद भी हमारे 'श्री बाबू जी महाराज' के सुन्दर शब्दों में यही है कि जो कभी न आवे। हम यह कह सकते हैं कि यदि भेद की बात हमारे मन में है तो यह क्योंकर सम्भव हो सकता है कि हमें उसका स्मरण न आवे। यह सत्य है किन्तु पुनः पुनः विचार एवं अपने 'श्री बाबू जी महाराज' की कृपा से उस याद को हम ऐसा बना सकते हैं जो हमें केवल और केवल अपने 'मालिक' का ही पता दे। उस भेद को अभेद बना देने वाली, उधार देने वाली चीज वही है जो हमें निज को खो देने के लिये विवश कर देती है एवं हमें यह कहने को मजबूर कर देती है कि संसार से हम नहीं जाते

हमीं चली जाती है। तपस्वी नहीं जाते किन्तु तपस्या की आवश्यकता चली जाती है। किन्तु अपने इष्ट में तन्मयता ही इसका तथ्य है और साधना की जीवन-शक्ति भी वास्तव में यही है कि " जिन खोजा तिन पाइयाँ गहरे पानी पैठ "।

कहते हैं कि जिस प्रकार झरना एक ही समय में कड़वा और मीठा पानी नहीं दे सकता उसी प्रकार मनुष्य के मन, एवं इच्छाओं में लौकिक एवं पार लौकिक आनन्द के विकास का समन्वय नहीं हो सकता अर्थात् उसके लिये ससार भी ईश्वर-मय होकर ही सुखदाई बन जाता है। थोड़ा सा क्लोरोफार्म लेकर मनुष्य अपनी सारी पीड़ा एवं कष्टों से मुक्ति पाकर कुछ घंटों के लिये अचेत प्रायः हो जाता है किन्तु प्रियतम परमात्मा की प्रिय रूप-माधुरी का पान कर साधक चिरंतन काल के लिये अनन्त-अचेतन अवस्था में खो जाता है। कैसा अलौकिक जीवन उनका होता है जिन्हें यह पता नहीं " को मैं ? चलेऊ कहाँ ? नहिं बूझा "। जिन्हें यह होश नहीं कि उनका पेट भरा हुआ है या खाली है, वे पापी हैं या सदाचारी हैं। उनका होश एवं उन बड़भागी के जीवन की बागडोर सदा सदा के लिये 'समर्थसद्गुरू' रूपी ममतामयी जननी सँभाल लेती है और बदले में भगवान की अनन्त-चेतना उसके अंग प्रत्यंग में भर देती है। यही कारण है कि संकल्प एवं अभ्यास में प्राण सींचने पर भी, जीवन से बेलौस होते हुये भी उनके प्राणों में ताजगी रहती है। कहते हैं कि जब तक हमारी दृष्टि में जीव रहता है तब तक आत्मा हमारे सामने रहती है किन्तु जब धागे के दोनों छोर मिलकर एक हो जाते हैं तब न उसका कोई ओर होता है न

छोर होता है। फिर तो एक दूसरे में खो जाता है। जो अंतर में होता है। वही बाहर होता है एवं जो सामने होता है वही अंतर में प्रत्यक्ष रहता है।

अब यदि कोई हमसे यह प्रश्न करे कि हम खो कैसे जाएं ? इस विषय में मुझे अपने परम पूज्य एवं जीवन के परम सर्वस्व 'श्री बाबू जी' का कितना सत्य एवं सजीव कथन स्मरण है कि " अल्लाहमियाँ के पास जो कुछ था सब सृष्टि-रचना में दे बैठे और खुद दिवालिया बन बैठे। अब हमें अगर एक दिवालिये की तलाश करनी है तो वैसा ही हमें बन जाना होगा। साधना की पराकाष्ठा एवं भक्ति की श्रेष्ठता एवं परिपक्वता भी यही है कि जिसकी हमें खोज है उसकी तलाश में हम खुद को खो देवें तब 'वह' दूर नहीं। वास्तव में वेदानुकूल-जीवन भी वही कहा जा सकता है कि जिस जीवन में अपने प्रिय सर्वेश्वर की सतत् स्मरण रूपी प्राण-शक्ति संचारित होती रहे। यही सच्चा जीवन है।

भाई कहा तो पुनः यही जा सकता है कि खोज तो किसी खोई वस्तु की ही की जा सकती है किन्तु जो हमारे उर-अंतर में सदा सदा से ही निवास कर रहा है उसमें तो हमारा स्वयं खो जाना ही, विलीन हो जाना ही शेष रह जाता है। वैसे आध्यात्मिकता का महासागर तो इतना विशाल एवं अथाह है कि उसमें जीवन भर गोते लगाने के बाद भी कुछ थोड़े से माणिक-मोती ही हाथ लग पाते हैं। एकनिष्ठ उपासना द्वारा धरा और मेरू को डोलायमान करने की शक्ति आ सकती है किन्तु घटघटवासी

'ईश्वर' का साक्षात्कार कर पाने के लिये ईश्वरीय-कृपा एवं ईश्वरीय-शक्ति रूपी बसन्ती बयार में स्वतः को विस्मृत कर पाने के लिये आध्यात्मिक-क्षेत्र रूपी ऋतुराज सहज-मार्ग ही हमें सच्चे सद्-गुरु का पता देता है। सद्गुरू वह चुम्बक है जो अपने बालक के मन में लगी ब्रह्म विद्या की प्राप्ति में बाधक कीलों को घसीट कर बाहर फेंक देता है। मन एवं बुद्धि कीलों व काँटों के स्वच्छ हो जाने पर 'सहज-मार्ग' में सुलभ अपार सरलता, मृदुता एवं हल्केपन का अनुभव करता है।

खोज एक निरन्तर तपस्या एवं सतत् साधना की वस्तु है। जिसका परिणाम 'प्रिय इष्ट' की खोज में अपने को खो देना अथवा लय कर देना होता है। भावनात्मक-जीवन के लिये खोज उस रूप में ही सिद्धि होती है जिसमें भाषा नहीं हो सकती है क्योंकि आत्मिक-स्थितियों के अनुभव की रमणीयता, रससिक्तता एवं ललतत्त्व शाब्दिक सीमा से परे है। किन्तु जहाँ अनुभव भी केवल अनुमान रूप में ही लिया जा सकता है, जहाँ पर पवित्रता का अविराम-क्षेत्र भी समाहित होकर समान रूप में प्रवाहित रहता है वहीं साधक का मौन किन्तु स्पष्ट यही अंतर-स्वर सुनाई पड़ता है कि "जिन खोया तिन पाइयाँ गहरे पानी पैठ"। सहज-मार्ग के विस्तृत आध्यात्मिक क्षेत्र में खोज का आरम्भ वहीं है जहाँ नेत्र धंधले पड़ जाते हैं एवं खोज स्पष्ट वहीं पर है जहाँ जिह्वा मौन हो जाती है, शब्द बिखर जाते हैं और तूलिका सदा सदा के लिये विराम ले लेती है। किन्तु स्वयं को खो देना वहीं पर स्पष्ट हो पाता है जब उसके इस अनुभव की चैतन्यता भी अवकाश ग्रहण करके

अपने 'चैतन्य' में सदा सदा के लिये प्रवेश पा जाती है। उसकी विचारधारा भी अपने 'चैतन्य' में ही निहित हो रहती है।

बसंतपंचमी के पुण्य-पर्व पर अपने हृदय में उठे दो शब्दों को अपने 'श्री बाबू जी महाराज' की कृपा द्वारा 'उनके' ही पावन चरणों में अपने प्रिय एवं पूज्यजनों के समक्ष रख पाने के इस प्रयास की सफलता भी तभी है जो हमें 'मालिक' की खोज में जिनको खो देने को विवश कर दे। वहीं पर किसी का यह कथन स्पष्ट रूप से केवल दृष्टिगत् ही नहीं वरन् चरितार्थ भी हो जाता है कि:-

"बेखुदी छा जाये ऐसी, दिल से मिट जाये खुदी।
'उसके' मिलने का तरीक़ा अपने खो जाने में है"॥

आज हमारे घर आँगन में मस्ती और बहार है।
आज हमारे लाला जी का, जन्म दिवस त्योहार है॥

१. उनकी हस्ती से प्रेरित हो, हम सब पथ आरूढ़ हैं।
उनके हस्त कमल की छाया, हम सब हित निर्वाण है॥

२. ऐसा पथ दिखलाया हमको, सरल, सहज और शान्त है।
हम जैसे अधमों के हित अब, ये ही पथ बरदान है॥

३. तेरी बरकत ही यह फैली, शत-शत धारायें बन आज।
तेरे ही पावन स्वरूप का, दर्शन करते साधक आज॥

४. अपने को अब करो समर्पित, यह क्षण दिव्य महान है।
कड़ी प्रतीक्षा बाद मिला अब, यह जीवन का लक्ष्य है॥

५. आओ शीश झुकायें हम सब, लाला की प्रतिमूर्त्ति को।
वही हमारा आज सहारा, संबल बना महान है॥

हम दुनियाँ में भटके इसलिए रहते हैं कि दुनियाँ की महक हमारे दिल में रहती है। अगर हम अपने अंदर वह महक पैदा करलें जिसमें कोई महक न हो तो हमारी दुनियाँ बदल जाती है और हम उस ऊँचे मंडल में जन्मित हो जाते हैं जिसको सालोकता कहा गया है परन्तु यह तो आरम्भ ही है इसके आगे और बहुत कुछ है। लगन बढ़ती ही चले तो फिर पता चलता है कि हम क्या थे और क्या हो गए। फिर जब होने का भी पता न रहे तब असलियत में पग रखा समझना चाहिए।

मालिक का धन्यवाद है कि आप में लगन बढ़ रही है। ईश्वर करे यह बढ़ती ही रहे। आप लिखते हैं कि यहाँ से जाने के पश्चात् पूजा में प्रगति है सो यदि आप अपने आप को यहां ही समझ लें तो आप अपने को पूजा में लीन पायेंगे। मसल मशहूर है कि 'सींक की ओट पहाड़' है। यदि आने-जाने, चलने फिरने, देखने भालने का विचार दिल में न रहे एवं करता सब रहे जो करने योग्य है तो फिर हम उस दशा पर पहुँच जाते हैं जहाँ पर तैराव ही तैराव शेष रह जाता है, बंधन सब टूट जाते हैं।

क्या यह यथार्थ है कि आपको श्रद्धा को अपनाना चाहिये धार्मिक ग्रन्थ तो सब यही बताते हैं परन्तु यह पता नहीं कि मैं श्रद्धा योग्य भी हूँ या नहीं। मैं केवल एक बात जानता हूँ वह यह कि आप लोग जैसा मुझे बना लेते हैं मैं वैसा ही बन जाता हूँ। कारण यह कि अब मेरे पास मेरी बनाई हुई कोई चीज ही नहीं रही। इसलिये जैसा आप बना लेते हैं वैसा ही मैं बन जाता हूं। अर्थ यह कि जैसा आप स्वयं बनना चाहें वैसा मुझे बनालें (अर्थात् मान लें)।

Some Important Features of Sahaj Marga

(Mahatma Ram Chandraji President Sri Ram-Chandra Mission)

I may today present before you some of the important features of our system, the Sahaj-Marga, or the Natural Path of Realisation. The system runs along simplest and most natural lines, which are easily adjustable in the ordinary routine of a worldly life. It admits none of the methods of rigid austerity and penance or of physical mortification undertaken with a view to effect the stangulation of the mind and the Indriyas. The ideology of Sahaj Marga is so plain that often for this very reason it is not so well understood by people who are under the impression that realisation is the most difficult job which requires persistant labour for lives and ages. It may however be difficult to those who proceed on, loaded with their own confused conceptions of Reality and adopt complicated means for their achievement. As a matter of fact Reality, which one aspires for is so simple that its very simplicity has become a veil to it. A simple thing can be achieved by simplest means alone. Therefore for the realisation of the Simplest, it

---

Speech delivered at the annual function of the mission(1963)

is only the simplest means that can ensure sure success. It is quiet easy to pick up a needle for the ground by means of your fingers but if you apply a crane for the purpose, it may well neigh be impossible to acheive. Exactly the same is the case with Realisation. The confusing methods and complicated means advised for the realisation of the Simplest do not therefore serve the purpose, rather on the other hand they keep one entangled in his self-created complexities all the life. As a Matter of fact realisation is neither a game of contest with the nerves and muscles nor a physical pursuit involving austerity, penance or moritification, but it is only the transformation of the inner being to its real nature. That is what Sahaj Marga therefore takes into account, ignoring all misplaced superflueties connected with it.

The practices advised under the system are not merely formal and mechanical, related with the closing of the eyes for meditation. They have a definite object, a purpose and an end. There are two aspects of it, the one being the Abhyas and the other, the Master's support through pranahuti (or yogic Transmission) which accelerates the Abhyasi's progress by removing complexities and obstruction from his

path. Under the old ways of practice, it was the Abhyasi who had to struggle hard for removing his impediment and obstructions while the Guru's job ended with prescribing for him certian mechenical practices for the purpose. It is however not so in Sahaj Marga where much of the responsibility in this respect rests upon the master, who removes impediments and clears off complexities from Abhyasi's mind by applying his own power through pranahuti. This age-old system of yogic Transmission has ever been the very basis of Rajyoga but which during the later period had almost been lost to the Hindus who were the real originators of it. It is now due the marvellous efforts of my great master Samrath Guru Mahatma Ram Chandraji Maharaj of Fatehgarh that this long forgotten system has been revived and brought to the light of the day. Uuder this process, the Master by the application of his internal powers awakens and accelerates the dormant forces in the Abhyasi to action and diverts the flow of the Divine Current towards his heart. The only thing for the Abhyasi to do is to connect himself with the power of a Master, whose mind and senses are all thoroughly disciplined and regulated. In that case the Master' power begins to flow into the Abhyasi' heart regulating

the tendencies of his mind also But this does not refer to the old orthodox view about guru-dom. In our Sanstha we take it in the form of common brother-hood with a spirit of service and sacrifice.

But then there is one difficulty. People are generally prone to take impression of one who displays to them charming miracles. Though this capacity does develop automatically by effect of practice, it can by no means be held as a criterian of yoga, besides a true Raj Yogi would never feel inclined towards it for the purpose of display. Miracles are however of two kinds, one of Divine nature and the other of the material nature. The purpose of the former is always godly, Whereas that of the latter wordly. The former type of miracles are awakened to him who proceeds by subtleness and they solve the problem of life that confronts us all. On the other hand those proceeding along with grossness, develop miracles of the latter type which overburden the heart. If, however, one gets absorbed in the conditions of this lower attainment, he as a whole becomes a knot, so to say, with a whirlpool inside for himself to be drowned. If that power is utilised on others they will also be dragged into the same whirlpool. In our Sanstha almost every one possessing this capacity but the

watchful eye of the master keeps it under control lest he might go astray on that account. He is not even aware of it but it comes to pass through his medium, when genuine need for it arises. For the spiritual help and support, we therefore need for our master, not one who displays wonderful miracles, or exhibits extraordinary feats of Asana or Pranayama or diliver learned discourses on the philosophy of Maya, Jiva and Brahm, but one who can solve our practical difficulties, remove impediments from our path and help us along by his own inner powers. If fortunately you happen to find one whose association promotes in you a feeling of peace and calmness and the restless-ness of mind seems to be silenced by his effect, you must understand that he has transcended the limit of senses and that he can be a fit person to help you in the solution of your problem of life by the exercise of his inner powers. By connecting yourself with him with love and devotion you also yourself begin to transform accordingly.

The routine practice followed in the Sanstha is meditation on heart and the same has also been advised by Patanjali. The basic principal of this process has already been discussed in the Efficacy of Rajyoga, which I do not mean to repeat

here again. The process greatly helps us in throwing out the grossness of our being and assuming a state of greatest subtleness. we know that God is completely devoid of grossness, so the realisation of God must mean the attainment of a state of similar subtleness to the last possible degree. This is what we aim at in Sahaj Marga. The system helps an abhyasi to free himself from grossness settled round him in the form of coverings.

The technique of Sahaj Marga, though quite simple, if often beyond common grasp, since it adheres closely to the absolute Reality and proceeds along subtlest lines. It prescribes meditation on heart, thinking of the Divine Light there. But the Abhyasi is directed not to try to see the light in any form or shape. If he does so, the light, perchance it appears to his view, shall not be the real but one as projected by him. An Abhyasi is however advised to proceed with it in the form of mere supposition. In that case it shall be the subtlest and we shall thereby be meditating upon the subtlest. Every saint has used the word 'Light' for it and I too can not avoid it since that is the only expression suited best for the purpose. But that creates some complication, because when we talk of light, the idea of luminosity becomes predominant and we begin to take it as glittering. The real

light carries with it no such sense and may be represented as light without luminosity. It refers to the very real substance or more appropriately the 'substance-less substance,' which is associated with neither light nor darkness but is beyond both. Under our system of practice too, an Abhyasi no doubt does see the light some times, but that is only in the beginning when matter comes in contact with energy. In other words it is a clue to show that energy has begun to work. Moreover light not being our goal, the vision of luminosity within or without is not an indication of the attain- of realisation.

Under the System of Sahaj Marga, the dormant energy of the centres and sub-centres is awakened so as to enable them to function properly. When the higher centres are awakened they begin to shed their effect upon the lower centres and when they come in contact with the Divine, the lower ones get merged in them. The higher centres thus take over charge of the lower ones. The lower centres too are cleaned so as to relieve them of the grosser effect settled on them. That alone is the proper and the most natural course which can bring out the highest results.

One thing which I specially lay stress upon is that the Abhyasi must cultivate in him

an intense craving amounting to restless eagerness or pinching impatience for the realisation of the goal. It is this feeling of pain or restlessness, as one might call it, which one has to develop inorder to ensure easy success. But I fear lest one might come up saying that he has stepped into the field of spirituality not for having pain or unrest but for achieving peace and tranquility. and he may be right from his point of view. But from my point of view I would say that the former is for those who have their eyes fixed upon the Divine, while the latter is meant for those who want to partake of the delight of the intoxication so to say. The latter is however not so very difficult to achieve while the attainment of the former is not of course a child's play. Many a man must have had a taste of the condition of peace. Let us now taste that, for a spark of which one might be ready to forego thousand states of peace and calmness. This is in fact the foundation of the entire structure which brings forth rare personalities into the world. In fact the actual state of the real peace is beyond comprehension. It admits of no contradiction. It is literally neither peace nor restlessness, neither union nor separation, neither bliss nor the otherwise. It is after all that for

which we had developed pain. May you all have a taste of that pain. It is not however difficult to cultivate. Only a firm will and an undivided attention towards it is all that is required for the purpose. Then what you seek for will be found quite close to you, rather with you, nay you might yourself be that which you seek for. For that there must be a burning heart, which might burn down the weeds and bushes on the path.

—

Prayer is begging, meditation is having.

——

Sleep relates to matter and Samadhi to spirit.

——

Consciousness is said to be pure when it is devoid of energy.

——

It is peace when it is associated with matter but when it is away from matter it is bliss.

——

Meditation on 'who I am' as some teachers prescribe, is a wrong process because in this way 'I' persists indefinitely. The process leads to direct metitation on'I'. Therefore 'I' become stronger.

The Master And The Mission.

(Shri Raghavendra Rao B. Sc. B. E. M I. S. E. Bellary)

Beloved Babuji, brothers and sisters,

The birthdy of the Great Master is a day of great significance and importance in the spiritual history of mankind. Especially for the present day world which is surcharged with godless and materialistic atmosphere, this day stands as a ray of hope.

Some saints of olden days when they found themselves incapable of withstanding the struggles for existence and survival, took up to a sort of escapism, severed their outward relations with the society and led a secluded life. They called this as "Sanyas" Ashram. As most of the forced methods weaken and get perverted, this method of taking Sanyas Ashram also got perverted. Today this Sanyas has become yet another method of struggle for existance and survival. For many, it is proving to be a very profitable profession. For a true seeker of Reality, the Sanyas Ashram is as good (or as bad) as the Grihastha Ashram. In fact the Sanyas Ashram is more dangerous because it is full of " easy falls. "

The rapid spread of materialistic civilisation having no spiritual foundation has diverted the attention of mankind towards glamour and dazzle. Conscquently, an outlook based on the animal law of the survival of fittest in the struggle for existence has developed. According to this, there is essentially no difference between man and dog. Ends justify the means. Brute force has become the only means. Those who lack it are forced to employ other means like falsehood, hypocricy, cunningness, deceit etc. The structure of the whole society is being built upon rivalry, hatred and fear. The evolution of man from animal is almost complete. And man is thinking of 'evolving' still further. God help us.

In the spiritually underdeveloped countries those who proclaimed, "I am the Son of God." " I and my Father are One, " " I am the Messenger of God," or "I am the Truth" were put to great hardships and some were even killed. And now they are worshipped. But those who worship them appear to do so only to fight and kill. Wars and mass murders in the name of religion and ideology have created disgust for such religions and ideologies in the hearts of the wise people all over the world. They are now

searching for the true Divine Light. We are having a great spiritual inheritance. We are expected to be highly advanced in spirituality. Let us keep up this great tradition. Let us resolve to be the torch bearers of the message of the great Master Let us sincerely pray to Him to bring us up to that stage.

Now the Great Master has given us Sahaj Marg. And we have taken up to spread the Gospel. As true seekers, it becomes our duty to grasp the true essence of His teaching and to avoid the pit-falls. We should not allow our Mission to degenerate into yet another mushroom among the innumerable sects of the world. In fact the teaching of the Master are essentially spiritual and are in themselves incapable of degenerating into crude animalism. It is left for us to realise the central essence and to fulfil His Mission.

I take this opportunity to place before you the efficacy of the method of Sahaj Marg. The Samarth Guru has discoverd the central region which is the origin or the sorce of the entire existence. And the master has shown us the region of Heart which is the play-ground of all our activities. In between these two, for the sake of our understanding, the Master has shown us

the Mind Region. The practical experience shows us that the study and purification of our heart alone will reveal to us the activities of the mind and the existence of the centre, provided our practice is conducted under the expert guidance of the Master and that we are fully prepared and determined to reach and realise the Ultimate.

Of course the entire practice is essentially in thought. We are normally aware of the thought when it is attached with a grosser thing. Our normal consciousness cannot grasp thought as it is. Due to this limitation of consciousness, we normally try to solidify our thought so that it may come within our grasp. This tendency of solidification or mental projection is the root cause of our unbalanced state. So long as this tendency is not removed, we will remain slaves of this habit which creates strong likes and dislikes, complications and impurities in the heart, and solidifies and narrows down our entire existence; and we will be livings like animals, pursuing wordly pleasures, increasing our desires and wants, and perverting our thoughts to justify all our activities which are meant for the gratification of our senses.

Thanks to the Great Master, the mystery of thought is now brought to light. In our

Mission the tremendous power of thought is utilisedto destroy this tendency of habit formation and solidification. The power of the Great Master works directly upon the Causal or Karan Sharir and the seed of the balanced state is sown right form the beginning Many Abhyasis complain that they feel nothing. How can they feel anything when the power which is working, is subtler than even consciousness? If the Abhyasis practise with love and faith for some time, they will understand the great change in themselves. All the downward tendencies of the mind are weakened and the necessary Divine impulse is imparted to the Abhyasi through Yogic Transmission. The transmission helps the Abhyasi immensely. Much of his unnecessary labour is saved. He starts on the spiritual pilgrimage in the most natural way.

Nowhere I have come across such a direct and easy method. Nowhere have I found such high attainments, so readily attainable that you have to merely ask for it and it will be bestowed upon you. God has come among us to give away everything. But if we refuse to see, the mistake is ours. Here He is sitting among us promising us everything. Let us listen to His silent call and carry out the task assigned to us. May He live in our Heart guiding us for ever.

The Divine Echo

(Sri Bishun Sahai, M. A.)

Everything on earth has to meet its end which is predestined. It is inevitable and none can escape it. Change is the law of Nature. Everything, living or dead, has to meet a certain allotted change in its existance. When the end is definite, why should not one endeavour to make it a shining one - shining in the sence of making the life bright, making it glitter with the lustre of the Mighty Effulgence, the faintest glimmer of which will make us enlightened and we shall start sailing athward the immeasurable ocean of Divinity.

The Mighty Lustre is there but how to get it is the real problem for us all. This problem can easily be solved if we are sincere to it, because as it is commonly said, 'God helps those who help themselves'. The ways and means required forthe purpose are not lacking but what we lack most is its selection on the basis of rational and unbaised analysis. The superstitions and dogmas are so deep rooted in our minds that we are mostly incapable of going off from them. They are the main cause of our aberrations which keep us poles apart from the real Truth. We remain

entraped in dense bewilderness not finding the correct way out.

Religious scriptures and rituals generally thought to be the means of achieving liberation, and routine recitation of hymns, mechenical performance of certain rituals and repeated reading of religious books and scriptures is all that one is required to do for it. This is all our conception of religion and we stick to it with rigidness and orthodoxy, keeping ourselves with in bounds and barriers for ever. If we go deep into the realities of religion we find that it is not what it is generally believed to be. The Hindi equivalent of religion is 'DHARMA', which is derived from 'Dha' Dhatu which means Dharna. Thus religion obviously refers to Dharna or obligation-towards self, parents, relations, friends and society, in the sense of duty. This may be taken as the first phase of it. The next phase of religions relates to our duty towards God. The sum-total of religion thus comes up to the due discharge of duty with love, faith and devotion and that is infact the true significance of the term 'worship'. But so far it is all for the sake of discipline, both physical and mental and it is an essential step for realisation. Thus religion is only a pril minary step for our march for the final end. In fact

spirituality starts from where the religion ends as our Master puts it in the Reality at Dawn. But the irony is that none is ready to hear it even, what to say of following it. religion is mainly concerned with the temporal phase of the human life while spirituality is concerned with the soul of the man. It is therefore spirituality and spirituality alone which can assist us in the achievement of the final end which may be termed as complete Freedom.

The scriptures lay down numerous methods for the achievement of the end but the surest among them is the Rajyoga. The word **Yoga** is derived from the Sanskrit word '**Yuj**' which means combining two things. Yoga is thus a process for establishing a link between the individual soul and the Universal Soul which may in other words be interpretted as Realisation. But the primary basic of Raj-yoga is 'Pranahuti' or **Yogic**-Transmission without which it is no good. Transmission is in fact the Achles Heel for Rajyoga without which it is but like an empty vessel. Fortuately today the Nature has blessed us with the presence of the great Divine Personality in whom one can discover the mighty Effulgence of the Divine. With his kind and benevolent grace the

old amulgamated system of Rajyoga having been transformed is presented as Sahaj-Marga Or the Natural Path of Realisation. The system is the simplest and the easiest all through. Simplicity is the very essence of Nature and this we find in it in great abundance. The word Sahaj means easy and natural and this system makes us simple and natural from the very beginning—natural, I mean in the sense of making us in tune with Nature.

An innocent little child is nearer to God than a grown up man. He is purer and lighter. The passing events of life gradually carry him away and away from Reality by adding more and coverings around his soul. These coverings serving as bondages create an everwidening gulf between him and the Supreme. Now to retrace our steps back unto Him we have first to wipe them off from our being. These bondages settle round in the form of Samskaras and turn into causes of our pains and sufferings. For that the Gita preaches Nishkam Karma which helps in bringing a stop to the further formation of Samskaras. But that being done there remains still a heap of Samskaras previously formed, the effect of which is yet to be undergone. This accumulation of

Samskaras can be exhausted through the process of Bhoga which is in itself a long and tedious process and may last for the whole life and even more. But with the kind help of the Master of calibre fully endowed with the divine Grace and having command over the Yogic power of Transmission (Pranahuti), the process becomes very easy and the course of years can be covered in minutes and seconds. Fortunately such a one we have today for our help and support.

All that we are now required to do is to put an end to the carni al season and to take it up with a Herculean zeal. Diligence is the mother of good luck. His Clarion call is echoing in the world reminding us again and again to bless ourselves with His Divine Fragrance that has made the whole world all-fragrant. We have to put an end to the Epicurean Hedonism if we want at all to avail of the opportunity, because time and tide wait for none. The realisation is not an El Darado today but has become a reality and to realise that Reality we have to assemble under the banner of this great Appolo of Divinity and thus to bless us with all that we can have by His divine Grace.

———

Commandments of Sahaj Marga.

(Shri S. P. Srivastava M. A.)

Revered Master, sisters and brothers,

Year after year we gather here to pay our homage to the father of Sahaj Marga Sadhana on his auspicious birth day, Basant panchmi. This year the importance of the occassion has been double folded due to the coincidence of the birth centenary celebrations of Swami Vivekanand, a father and founer of modern India. In fact the task of India's cultural and spiritual renaissance inaugurated by Swami Vivekanand, his revered master, the Paramhansa, has been furthered and is being consolidated by the Master of Sahaj Marga Sadhana in the form of rejuvinated system consisting of the essence of India. Philosophy.

In what does this essence of Indian philosophy consist ? In discovering and prescribing the course or path to the ultimate destination of human life, known variosuly as self-realisation, God-realisation, perfection etc. The seers of the Upnishads, particularly Yagyavalakya, Vashishtha etc. Presented it in a systematic form. It underwent disfigurement and deformity in due course of time and had to be rediscovered by Gautam, the Budha who went directly to the fountain-head of the experience of the enlightenment and then laid down the path for the benefit of all concerned. This too underwent the same process of deformity and disfigurement through mental manipulations of those who lacked the experience of enlightement themselves and yet took upon themselves the task of laying down the path for others.

Many saints and sages followed some of them, attained the ideal of realisation themselves but could not make a lasting popular appeal at the level of reason and common sense. Others gave scholastic systematization to the science of human perfection, but as may be expected from mere systematizers who lack actual experience, the contributions of scholars of this category remain full of confusion with regard to the goal and path for purposes of actual and proper guidance. During the darkest period of the history of Indian philosophy, Muslim sufis however prescribed the science of human perfection with a sufficient amount of clarity. At the beginning of the modern era we find Swami Vivekanand roaring like lion before all humanity that there is nothing mysterious at all in this science of human development that consitutes the essence of Indian perenial cultural philosophy. He however has not been able

to fullfill the gignatic task during the brief span of his physical existence. He only inaugurated the movement, the task of instituting the science and tenhnique of human development and perfection almost in a form of systematic syllabus has been taken up and is being very ablly carried forward by the masters of Sahaj Marga Sadhana. That is the importance of the movement to which we are all attached in the history of Indian culture and philosophy.

Now the question naturally arises as to how does Sahaj Marg Sadhana propose to fulfill the task ? We can judge and eva uate the path only with reference to the goal. Now what is the goal of human life as pointed out again and again, that ideal is summed up in that one word, Balance variously spoken of in diferent contexts as युक्त, मुक्त, बुद्ध, जिन enlightened, virtuous, etc. What does this Balance signify— having every thing in its proper place. Last year I described ideal with reference to an anecdote about Saint Kabir and our master is never tired up emphasizing and repeating that the perfected man has every thing in his nature ideally ordered and balanced. He is angry when needed taking no trace or effect of the anger beyond its need and this applies to everything.

Now this being the ideal, the next step is to lay down the path to it. How is an individual to progress towards this end ? Naturally by adopting such practices as may help the individual to be closer and closer to the ideal. The ten commandments of Sahaj Marga which have been commented upon by our revered Shri Babu Ji and on which Dr. K. C. Varadachari has delivered learned discourses, are aimed at providing such an assistance to the aspirant for the ideal of Yogic Sadhana. The sum and substance of all these commandments is to adjust the individual to reality as a whole in the most appropriate manner. The purpose of all the commandments is to bring about gradually a condition of balance and equanimity from physical, physiological, social psychological purposes and idealogical points of view. I do not propose to deal with these commandments one by one just now. Most important thing that stands out significantly with regard to these commandments is that these are for the good of the aspirant in relation to his total surroundings. They sometimes seem unreasonable and extremists for practical purposes but only to a renowned vision. When parents tell a child to do something andnot to do something, it is ultimately in the interest

of the child's own proper normal development. But to the narrow vision of the child these commandments appear as most unreasonable even tyranical at that time, though the same child, when grown up realises the reasonableness of the parents commandments.

Let us take for example a very controversial commandment particulerly at this critical juncture of national emergency created by the Chineese aggression. Commandments no. 7 states be not revengeful for the wrongs done by others, take them with gratitude as heavenly gifts' Takings this commandments in the literal sense like a blind duffer, one may take it to be an encouragement to the attitude of cowardly surrender where the strength and courage of a lion alone be required to bring about the balance. As I have already pointed out all these commandments are aimed at bringing an Abhyasi to the ideal of perfect psychological equaminity, which is the source of all spiritual strength and Divine communion. Desisting from petty revenge and smiling compassionately over the actions of petty minded evil-doers is the characteristic of strongest man. Any so-called practice of this commandment that does not elevate an individual towards such a human strength is a mere

carricature of the real practice of this commandment. If instead of bringing such a confidence and strength, the practice of this commandment bringing a shameful cowardly attitude of depression in the abhayasi, he must be sure that he has erred in grasping the essence of this commandment in its practical aspect. He must prefer even angry fight with the aggressor in order to put him back into his own place and moreover, in order to maintain his own psychological equanimity which otherwise might have weighed on the side of depression. The attitude of revengefulness brings about a sort of psychological disbalance of a permanent nature and thereby turns the abhyasi's direction away from his goal. It is therefore commanded that this kind of selfish indulgence that puts the abhyasi at par with the evil-doer has to be avoided. But what is the most mischievous element in the attitude of revengefulness— it is hatred, arising out of self indulgence. It is not the action performed at a particular time according to the need, even if this action is in the form of killing an individual that is injurious to the psychological equanimity. But it is this element of hatred arising out of self indulgence which is poison to spiritual advancement. Fear arising out of self indulgence is even

worse poison to spiritual advancement. Action, devoid of fear, hatred or any unhealthy emotion rooted in self indulgence is the way to freedom and balance. In order to attain it one must rise above hatred, but if he can not, he must prefer righteous hatred to fear arising out of self indulgence. Therein lies the essence of this Commandment which constitutes the essence of entire crux of Indian culture and philosophy. When Ram destroys the whole army and family of Ravana' he does not feel an upheaval in his spirit in the form of hatred or fear or malice arising out of self indulgence for a single moment. The actions seem to move in a sort of natural plan and order and a particular person is found to act as a mere instrument in this plan and order of events. The second part of the commandment emphasizes this aspect of surrender of all experience and action to the divine master– 'take them with gratitute as heavenly gifts. The evils coming from the evil doer ought to be surrendered to the divine Master even so the actions that flow naturally from the 'abhyasi' as a mere instrument in the order of nature. If such an attitude grows up in the proper form, the abhyasi will find himself seated at high pedastal of compassion with nothing but a blessing for his

worst enemy, radiating peace and calmness all around. Even if this high level of advancement has not been attained the practice of giving up an attitude of revengefulness be freedom from hatred and malice born of self-indulgence, may be quite usefully carried on at any level of development. As in case of this commandment so also with regard to each one of them, they are all aimed at bringing the 'abhyasi' closer and closer to goal. If this goal is clearly conceived, there can be almost no difficulty in practicing these commandments intelligently.

I join all my brothers and sisters in paying homage to the "Adi-Guru" of Sahaj Marga Sadhana and embodiment amongst us and to all that he represents and stands for.

× × ×

Samadhi refers to a state of moderation and balance. Its interpretation as a state of unconsciousness is absurd and it impedes higher ascent, since Samskaras remain unexhausted thus.

Talks on Efficacy of Rajyoga

(Dr. K.C. Varadachari M. A. Ph. D.)

(Continued from the previous)

Meditation attempts to awaken this gross changelessness into movement upwards to the Real state of which this is an inversion. The philosophy of creation as an inversion is an ancient one. Whilst philosophers argue about the Parinama or gradual manifestation of the original into the world both cosmic and individual, what they have not explained is also this series of succeeding inversions leading upto the last of the gross solid forms such as sense-organs or the physical bodies. Vivarta or inversion is a real process which leads to illusion or knowledge of the inverted alone. It was Plato who has clearly shown how this inversion occurs. Shri Sankaracharya undoubtedly put his hand on this point and pratibimba-vada is an inversion theory, however it was not pursued to yield a real explanation of the process of descent as a series of each higher plane being inversed or reversed to form the lower and adding heaviness to this.

The upward ascent has to be by the same process of reversing the inversions. Each one of the points at which the inversion happened is a point of change and it is known both as a knot or a chakra, a wheel which has to be reversed in its movement. Thus we get the significance of the notion of the rotating the dharma-chakra which is the reversing of the movement of the adharm-chakra (the movement of descent being turned to become the movement of ascent). This is one of the most important things which the transmitted power of the Master achieves for no one can do it oneself for oneself. The mere reversing of this movement at the centre of the heart which is the gross point of our thought, immediately achieves the reversal of all the inversion-points or chakras also imperceptibly at the beginning and perceptibly later on. This in itself brings about the loss of tension and the experience of relief from pain and torment.

Our physical heart is well-known to the pumping station of the blood. Also it is that which receives on the one hand the venous or impure blood and that which sends out on the other hand the arterial or purified blood. These two processes are indeed very complementary and they are very much similar to what has been suggested to be done in the attempt at

purification of the mind itself, that is to say, on the one hand there is necessity to remove all impurity in our thoughts and on the other prevent all impurity from entering into the thought. This analogous character of the processes indeed facilitate the unity of the physical, vital and mental levels of man. The meditation on the heart impels the processes of cleaning of all the solidity or grossness or impurity that has settled in our system in the form of obstructions. Usually they appear as black spots or areas in the regions affected-this of course is to be seen only by the inward vision rather than outer seeing.

The heart as centre of the mind or manas is well-known since it is the heart that throbs and warms up or is gripped in fear. Modern psycho-physiologists aver that this is due to the activity of the adrenal glands and the sympathetic autonomous nervous system which is the activated sector of man in all emotions.

The meditation on the Heart is also necessary for it is for man at least the point of greatest importance. Some think that one should meditate on the Kundalini at the Muladhara cakra (sacral plexus; some others that the meditation or concentration should be on the centre or middle of the

brows (bhru-madhya); and still others that it should be done at the crown of the head. All these are not so very rational as the natural procedure at the heart. We all know that when we declare ourselves we clasp or tap our chest region. Especially the right side. Indeed one great teacher of the modern day claimed that the heart is in the right side, since obviously we all call that with the affirmation of 'I'. However this too is not counselled by Shri Ramchandra Ji. He with the Gitacharya claims that the Divine rests in the heart (hrd-dese tishtati). With such a natural centre for meditation it is better to start.

The meditation on the heart from which all forces or blood radiates to all parts begins to slowly shatter the solidity which has been crept into the senses thanks to our wrong-directed ideas and thoughts of different kinds. It is owing to the senses or indriya and manas taking wrong turns and getting solidified we begin to lose the powers of discrimination. Meditation centres the entire forces at one point namely the heart which is the natural physical centre or cakra. This heart should not be confused with the anahata-cakra of the Sat-cakras of the tantra-yoga. It is the centre of the individual mind which by this meditation is gradually tamed to 'leave its habit of wandering about'. Thus the individual mind is directed to the right path.

The Master speaks about the necessity 'to go back through downward motion to the condition from which we had come down'. This requires a brief explanation. The descent from the highest or Ultimate Centre is a downward path upto the formation of the physical Heart. The going back by the downward motion means the reversal of the entire motion from within the heart by the utlisation of the central force to form a region so to speak round the Heart region. This formation leads to the expansion of the centres located in our body. The central force begins to activate them so as to make them glow, for they have lost this power of luminosity as the solidity increased. This is a new method indeed for it is not mentioned in any literature as to how the downward motion of the Central force makes the covering over the entire Heart Region and makes the centres which had formed previously and made non-luminous, become luminous. These centres of the Hear Region are invaluable for it is the glow of this heart centre where in abhyasis experience the 'Jyoti', light or flame that makes one realise the readiness of the abhyasi for spiritual growth. When the Master transmits this central force on the heart of the abhyasi his heart becomes glowing or luminous and he experiences the calm and lightness of the Infinite Central force itself.